मध्य प्रदेश, बिहार एवं उत्तराखण्ड की जनजातियों में भूमि अलगाव की समस्या अधिक है। नदीम हसनैन ने उन तरीकों की विवेचना की है जो बाहरी लोगों को जनजातीय भूमि हड़प लेने तथा जनजातियों में भूमि अलगाव विकसित करने में सहायता प्रदान करते हैं। इनमें न्यायालय, अपने ही विरुद्ध गवाही देने का तरीका, बाजदावा तथा साहूकारों द्वारा सरल स्वभाव एवं ईमानदार प्रवृत्ति के आदिवासियों को बहला फुसलाकर ऋण के उपलक्ष में न्यायालय द्वारा उनकी भूमि अपने नाम करवा लेना प्रमुख हैं।

इसलिए सबसे प्राथमिक समस्या इस भूमि अलगाव को रोकने की है। इसके साथ ही, जनजाति परिवारों को उनकी भूमि पुन: वापस दिलाने का प्रोग्राम भी बनाया जाना चाहिए। भूमिहीन मजदूरों की दशा में परिणत हुए आदिवासियों की पुनर्स्थापना के लिए उन्हें आवश्यक भूमि दी जाए और कृषि की शुरुआत के लिए कुछ आर्थिक सहायता भी दी जानी चाहिए। इस दिशा में सहकारी समितियों का निर्माण करके भी सहकारी खेती का प्रयोग किया जाना चाहिए।

अनेक राज्य सरकारों द्वारा जनजातियों में भूमि अलगाव को रोकने हेतु कुछ कदम भी उठाए हैं। भूमि अलगाव को रोकने हेतु कुछ अधिनियम राज्य सरकारों द्वारा पारित किए गए थे। इनमें 'आन्ध्र प्रदेश अनुसूचित क्षेत्र भूमि हस्तान्तरण विनियम, 1959', 'अनुसूचित क्षेत्र में सम्पत्ति (किराये में कमी-संशोधन) विनियम, 1951', 'मध्य भारत अनुसूचित जनजाति (भूमि आबंटन एवं हस्तान्तरण) विनियम, 1954', 'मध्य प्रदेश भूमि राजस्व कोड, 1959', 'बम्बई काश्तकारी तथा कृषि भूमि सुधार अधिनियम, 1948', 'उड़ीसा अनुसूचित क्षेत्र अचल सम्पत्ति हस्तान्तरण (अनुसूचित जनजाति) विनियम, 1956' तथा 'राजस्थान काश्तकारी अधिनियम, 1955' प्रमुख हैं। इन नियमों को अधिक प्रभावशाली बनाए जाने की आवश्यकता है। नियमों को प्रभावशाली बनाते समय यह बात ध्यान रखने योग्य है कि एक हमें जनजातीय भूमि हथियाने से बाहरी लोगों को रोकना है तथा दूसरे भूमि सुधार के प्रयास तेज करने हैं। प्रशासन को चुस्त-दुरस्त बनाकर अधिनियमों को लागू करना है ताकि बाहरी व्यक्ति आदिवासियों की अशिक्षा एवं सरल स्वभाव का लाभ न उठा सकें।

(4) अन्य जनजातीय समस्याएँ (Other Tribal Problems)

जनजातियों में निर्धनता, ऋणग्रस्तता एवं भूमि अलगाव के अतिरिक्त अनेक अन्य समस्याएँ भी पाई जाती हैं। इन समस्याओं का संक्षिप्त परिचय एवं उनके समाधान का तरीका निम्न प्रकार है—

(I) झूम खेती की समस्या (The problem of shifting cultivation)—कुछ क्षेत्रों में जनजातियाँ आज भी स्थानान्तरण पर आधारित खेती करती हैं जिसे **'झूम खेती'** या **'दह्या खेती'** भी कहा जाता है। ऐसी खेती प्राय: वे जनजातियाँ ही कर रही हैं जो अभी बाहरी सम्पर्कों से सापेक्षिक रूप से दूर हैं। इस प्रकार की खेती में जंगल को काट दिया जाता है और गिरे हुए पेड़ों में आग लगा दी जाती है। जब अग्नि शान्त हो जाती है, राख ठण्डी हो जाती है तो उसमें बीज बोया जाता है। इस भाँति, वहाँ दो-तीन फसल उगाने के बाद ही जनजाति आगे बढ़ती है और फिर यही प्रक्रिया वहाँ दोहराई जाती है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की खेती से ऐसी जनजातियों ने स्वयं अपने लिए आर्थिक-समस्याएँ खड़ी कर ली हैं। इस प्रकार की खेती न केवल अनार्थिक है, बल्कि भूमि की उर्वरता को समाप्त करती है और वनों के अभाव से भूमि कटाव भी बढ़ जाता है। इन सबका अन्तिम परिणाम भुखमरी के रूप में सामने आता है।

Scanned with CamScanner

साफ जाहिर है कि इस प्रकार की खेती को बदलना होगा। इसके लिए सम्बन्धित जनजाति को स्थायी खेती के लिए आवश्यक ज्ञान और प्रेरणा प्रदान करनी होगी। साथ ही, उन्हें आवश्यक संसाधनों के लिए भी सहायता देनी होगी।

(II) विभिन्न तरीकों से आर्थिक शोषण (Economic exploitation in various ways)— जनजाति के लोग बाह्य व्यक्तियों; जैसे जमींदारों, व्यापारियों एवं साहूकारों के द्वारा आर्थिक रूप से अनेक प्रकार से शोषित होते रहे हैं। ऐसा लगता है कि मानो ये नए आर्थिक बल उन्हें अपना दास समझते हैं। व्यापारी उनके जंगलों की बहुमूल्य उपज मिट्टी के भाव खरीद लेते हैं और उन्हें आधुनिक तड़क-भड़क वाली चीजें; जैसे खुशबूदार साबुन या लिपस्टिक भी ऊँचे दामों पर बेचते हैं।

आर्थिक शोषण का एक और तरीका भी रहा है। खाद्यान्न की समस्या से पीड़ित इन कमजोर आदिवासियों को प्रलोभन देकर चाय के बागानों में और खानों में काम करने के लिए बड़ी संख्या में अपने क्षेत्र से बाहर भी ले जाया गया है। वहाँ मजदूरों के रूप में इनकी दशा दयनीय हो गई है। न तो ये एक समय सारणी में बँधे औपचारिक रूप से काम करने के आदी थे और न मजदूरी के तौर-तरीकों से परिचित थे। आधुनिक अर्थों में उनके कोई श्रम संघ भी नहीं थे। इसलिए इन नए कार्य-स्थलों पर उनसे जानवर की तरह कार्य लिया गया है और उनके स्वास्थ्य या विकास की पूर्णतया उपेक्षा की गई है। कानून भी प्राय: आर्थिक रूप से शक्तिशाली वर्गों का ही साथ देता है।

इस समस्या को हल करने के लिए यह आवश्यक है कि जनजातियों को न्यूनतम वेतन दिलवाया जाए और फैक्ट्री अधिनियमों व श्रम कल्याण सम्बन्धी कानूनों का कठोरता से पालन करवाया जाए। साथ ही, उनमें श्रम-संघों के विकास की प्रेरणा दी जाए और उन्हीं में से नेतृत्व के विकास को प्रोत्साहित किया जाए।

इसके अतिरिक्त, इस आर्थिक शोषण को दूर करने का एक उपाय यह भी हो सकता है कि जनजातीय क्षेत्रों में गृह एवं लघु उद्योगों की स्थापना का जोरदार अभियान चलाया जाए। इसके लिए आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करनी होगी तथा खनिज पदार्थ एवं यन्त्रों के लिए सहकारी साख समितियों का निर्माण होना चाहिए। विपणन के लिए सहकारी विपणन समितियों का भी गठन किया जाना चाहिए। ये गृह उद्योग अगर जनजातीय कला-कौशल पर ही आधारित हों तो और भी अच्छा है।

(III) बँधुआ मजदूरी (Bonded labour)— कई बार अनेक आदिवासियों को बन्धक मजदूर के रूप में काम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। जमींदारी प्रथा, ऋणग्रस्तता, आदिवासियों की अज्ञानता आदि उन्हें बन्धक मजदूरी में बाँध देती है। बन्धक केवल मजदूर ही नहीं होता, बल्कि उसका पूरा परिवार ही मानो बन्धक हो गया होता है।

बन्धक मजदूरी भारत के वर्तमान कानूनों की दृष्टि से गैर-कानूनी है। इसलिए इस समस्या का हल कानूनों को ईमानदारी से लागू करना है। परन्तु साथ ही मुक्त मजदूरों के पुनर्वास के लिए वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था भी करनी होगी।

(IV) वनों के नए कानून और जनजातीय जीवन (New forest laws and the tribal life)— सबसे पहले वनों पर जनजाति समाज का स्पष्ट और प्रभावी अधिकार था। **ब्रह्मदेव शर्मा** ने वनों के सम्बन्ध में परिवर्तन प्रक्रिया का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है, "समय के साथ राज्य ने अपना कोई अधिकार जताए बिना वनों का आर्थिक दोहन प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे पैर जमाने पर राज्य ने कानूनी आधिपत्य प्रतिष्ठित किया, उनके आर्थिक दोहन को दीर्घकालीन आयाम दिया और उनको सघन भी किया। परन्तु उसके साथ ही आदिवासियों के द्वारा वन संसाधनों के उपयोग के

Scanned with CamScanner

अधिकार को भी स्वीकार किया। कालान्तर में अधिकारों को रियायतों का रूप दिया गया और अन्तिम चरण में संसाधनों में राज्य के स्वामित्व को औपचारिक रूप देकर नैगम स्वामित्व को आवरण दे दिया गया। अब उनका दोहन आय-व्यय, निवेश-उत्पादन इत्यादि के आधार पर हो सम्भव है जिसमें आदिवासी अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं का जिक्र और समावेश अन्तर्गत और क्षोभकारक ही बन जाता है।"[5] स्पष्टत: इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आदिवासी अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई है। उनके जीवनयापन के साधन छिन गए हैं और जीवन अस्तित्व की विकट समस्या उपस्थित हो गई है।

इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब वन विभाग आदिवासी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर **सामाजिक वानिकी** (Social forestry) के कार्यक्रम बनाए। वनों के संरक्षण और वनों के उत्पादन में आदिवासियों को रोजगार दिया जाना चाहिए। साथ ही, वन उपज पर आधारित लघु उद्योग लगाने के लिए आदिवासियों को आवश्यक प्रशिक्षण और प्रेरणा भी दी जानी चाहिए।

(V) सामाजिक-सांस्कृतिक सामंजस्य सम्बन्धी समस्याएँ (Problems of socio-cultural adjustments)—**मजूमदार** एवं **मदन** ने जनजातियों के उन समस्याओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है जो बाह्य संस्कृति के साथ सम्पर्कों के कारण उत्पन्न हो रही हैं। वास्तव में, ये सामाजिक-सांस्कृतिक सामंजस्य की समस्याएँ हैं जो आदिवासियों के बाह्य बलों के साथ या उनके सम्पर्कों के परिणामस्वरूप पैदा होती हैं। उनमें प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(i) नए सामाजिक संस्तरण का उदय—बाह्य समूह एक उन्नत और शक्तिशाली रूप में जनजातियों के सम्मुख आए हैं। इसलिए न केवल उनके मस्तिष्क में वरन् जनजाति के लोगों के मस्तिष्क में भी एक स्पष्ट श्रेष्ठता या निम्नता का संस्तरण बन गया है। इन बाह्य शक्तियों के मन में इन जंगली लोगों को सभ्य बनाने की तीव्र अभिलाषा भी है, चाहे वह बाह्य शक्तियाँ हिन्दू हैं या गैर-हिन्दू अथवा विशेषत: ईसाई। ईसाइयों ने उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित किया है, पर हिन्दुओं को श्रेष्ठ समझकर जनजाति खुद हिन्दू जाति संरचना में प्रवेश पाने के लिए प्रयत्नशील रही है। लेकिन, प्राय: इस प्रयास में सफल होने पर भी जनजातियों को या उनके अधिकांश भाग को हिन्दू संरचना में निम्न श्रेणी ही मिली है। कहीं-कहीं तो वे अस्पृश्यता सम्बन्धी विचारों व तौर-तरीकों के शिकार हुए हैं जिन्हें समझ पाने में या जिनका सामना करने में वे असफल रहे हैं। इतना ही नहीं, वरन् खुद जनजाति समाज में भी संस्तरण की दीवार खड़ी हो गई है। उनका पहले से प्रभुताशाली वर्ग या जो सामंजस्य करने में पहले सफल हो गए और नई सुविधाओं का लाभ उठा पाए, वे ऊँची श्रेणी में गिने जाने लगे हैं। शेष अधिकांश जनजाति निम्न और कमजोर वर्ग के रूप में जीवन बिताने को मजबूर है। विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों का लाभ भी जनजातियों का यह उच्च वर्ग ही उठा जाता है और कमजोर वर्ग पहले की भाँति उपेक्षित और शोषित रह जाता है।

(ii) द्विभाषा की समस्या—बाह्य सम्पर्क के कारण जनजातियों में द्विभाषावाद की समस्या उठ खड़ी हुई है। कहीं-कहीं तो जनजाति के लोग नई भाषा को सीखने में इतने उत्साह से आगे बढ़े कि अपनी भाषा के महत्त्व को ही भूल गए। यह सच है कि वे आदिवासी पड़ोसियों से बातचीत करने लगे, परन्तु हर भाषा के प्रतीक और उनके अर्थ अलग-अलग होते हैं। इस तरह, आदिवासियों के जीवन में एक शून्य (खालीपन) बन गया है और न तो वह बाहरी भाषा के मूल्य जीवन में ला पाए हैं और न अपनी ही भाषा के सन्दर्भों को सुरक्षित रख पाए हैं।

(iii) वस्त्र विवाद—अधिकांशत: आदिवासी न्यूनतम वस्त्रों का प्रयोग करते आए हैं। कहीं-कहीं तो वे नंगे रहते थे, परन्तु जब वे बाहरी समूहों को गर्दन के नीचे तक वस्त्रों से ढका

5. डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा, **आदिवासी विकास**, पृष्ठ 82.

Scanned with CamScanner

देखते हैं और ये समूह उनकी नग्नता को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, तो वे स्वयं पर लज्जित महसूस करने लगे हैं और अपने को वस्त्रों से ढकने के लिए मजबूर हो गए हैं। परन्तु उन्होंने अभी आधुनिक स्वच्छता के नियमों से परिचय नहीं पाया है और न उसके महत्त्व को समझा है। परिणामतः उनके कपड़ों में बदबू आने लगती है और जूँ तक पड़ जाती हैं जिनसे अनेक रोग होने लगते हैं।

इसलिए उन्हें शारीरिक सफाई विज्ञान से भी परिचय दिया जाना चाहिए और यथेष्ट मात्रा में साबुन इत्यादि उनके पास होना चाहिए। मजूमदार एवं मदन ने उचित ही लिखा है कि सिवाय बहुत ही ठण्डे क्षेत्रों के, कोई कारण नहीं है कि न्यूनतम वस्त्रों की प्रथा को समर्थन न दिया जाए। धूप व खुली हवा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है और आर्थिक बोझ को भी कम करती है।

(iv) कुछ सामाजिक बुराइयों का प्रवेश—यह भी खेद का विषय है कि हिन्दू संस्कृति का अन्धा अनुकरण उनमें हिन्दू समाज की कुछ बुराइयों को भी फैला रहा है। उदाहरणार्थ, उनमें भी बाल विवाह होने लगे हैं तथा विधवा पुनर्विवाह पर रोक लगने लगी है। विवाह संस्कार अधिकतर तड़क-भड़क से किए जाने लगे हैं। जनजातियों में विवाह वयस्क होने पर होता है और जीवनसाथी प्राप्त करने के अनेक तरीके वहाँ प्रचलित हैं। कभी-कभी स्त्री-पुरुष को साथ रहने पर भी पति-पत्नी के रूप में मान्यता दे दी जाती है और जनजाति को एक भोज देने-मात्र से सामाजिक नियम के उल्लंघन का प्रायश्चित हो जाता है। यह सभी सरल सामाजिक दृश्यविधान वहाँ बदलता नज़र आ रहा है।

(v) सामाजिक संगठन में परिवर्तन—सांस्कृतिक सम्पर्कों से जनजातियों की कुछ महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ बदलने लगी हैं। जैसे—कुछ जनजातियाँ युवागृह जैसी संस्था को छोड़ने लगी हैं। ये युवागृह बहुउद्देश्यीय थे। इनमें नई पीढ़ी अनौपचारिक रूप से शिक्षा ग्रहण करती थी और नृत्य, संगीत, खेल-कूद द्वारा यहाँ व्यस्त जीवन की जिम्मेदारियों के लिए व्यक्ति तैयार होता था। घर भी उन तनावों से बच जाता था जो पीढ़ियों की समीपता से पैदा होता है। ऐसी संस्थाओं का ह्रास उनके सामाजिक संगठन में परिवर्तन कर रहा है।

उपर्युक्त सभी परिवर्तन ऐसे हैं कि जनजातियों में जो कुछ मौजूद रहा है उसमें ह्रास हो रहा है और जो कुछ उसकी जगह उन्हें मिल रहा है वह उनके परम्परागत विचारों, साधनों या व्यवहारों के साथ मेल नहीं खाता। इस समस्या का समाधान परसंस्कृतिकरण से उत्पन्न सामंजस्य को अधिक तार्किक, मानवीय और स्वाभाविक बनाने में निहित है। यह उचित होगा कि सामंजस्य के नए प्रतिमान तय करने में जनजाति के मुखियाओं और शिक्षित व्यक्तियों को ही निर्णय का मौका दिया जाए। उनके द्वारा निर्धारित सामंजस्य स्वीकार किया जाना चाहिए और उसे बल प्रदान किया जाना चाहिए।

(VI) धार्मिक संरचना में ह्रास (Decline in religious structure)—जनजातियों का धर्म और जादू-टोना उनके ऐतिहासिक परिस्थिति के साथ अनुकूलन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। वह अनेक पीढ़ियों के अनुभवों पर आधारित है। वह उनके जीवन चक्र को और सामाजिक जीवन की प्रमुख वार्षिक क्रियाओं को नियमित करता है। यही नहीं, महामारी या ऐसी ही आकस्मिक विषम परिस्थितियों और दुर्घटनाओं में उन्हें सहारा और आश्वासन प्रदान करता है। सभ्य समाजों के सम्पर्क में आकर, चाहे वह हिन्दू धार्मिक दर्शन हो अथवा ईसाई धर्म, जनजाति के लोग अपने धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं में आस्था खोते जा रहे हैं। वे ऐसी नाव में सवार हो गए हैं मानो जीवन की उत्तुंग लहरों से जूझते हुए उनके माँझी की पतवार ही छूटकर बह गई हो। उनके आध्यात्मिक सहारे बिखर गए हैं और वे मूल्यों के संकट में पड़ गए हैं।

इस संकट का समाधान बाह्य धार्मिक प्रचारकों के हाथ में है। उन्हें याद रखना चाहिए कि प्रत्येक धर्म आस्था पर आधारित होता है। वह विश्वासों, संस्कारों और गाथाओं का एक समन्वित

Scanned with CamScanner